

# गृहस्थ आश्रमः समस्त आश्रमों में श्रेष्ठ आश्रम'

## सारांश

मेरा यह शोध पत्र चार आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थ आश्रम पर आधारित है। इस शोध पत्र के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार गृहस्थ आश्रम अन्य आश्रमों यथा ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, सन्यास से श्रेष्ठ एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत गृहस्थ के कर्तव्यों (तीन ऋण, पंच महायज्ञ, संस्कार, पुरुषार्थ) एवं समाज के प्रति उनके उत्तरदायित्वों का बहुत ही सरल, सुस्पष्ट एवं संक्षिप्त रूप से व्याख्या करने का प्रयास किया है।

**मुख्य शब्द :** इन्द्रिय निग्रह, अग्निहोत्र, तर्पण, श्राद्ध, अनिष्टकारी, समावर्तन संस्कार, अस्पृह्य।

## प्रस्तावना

प्राचीन काल में आश्रम व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन की महत्वपूर्ण व्यवस्था थी जो वर्ष के साथ सम्बन्धित थी। इसके अन्तर्गत मानव जीवन की अवधि सौ वर्ष मानकर उसका चार बाबार भाग करके प्रत्येक भाग में एक एक आश्रम क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास का विधान किया गया था। सर्वप्रथम जाबालि उपनिषद में चारों आश्रमों का उल्लेख किया गया है। शास्त्रिक रूप से आश्रम शब्द श्रम धातु से बना है जिसका अर्थ परिश्रम करना है। जहाँ मानव जीवन साध्य एवं श्रम इसका साधन होता है। इस तरह आश्रम वह स्थान था जहाँ श्रम से जीवन को सफल बनाने का प्रयास किया जाता था। इस व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल में पुरुषार्थ की धारणा, ऋण की धारणा, पंच महायज्ञ, संस्कार आदि प्रमुखतः महत्वपूर्ण थे। जिनके माध्यम से मनुष्य भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के सुखों का समन्वित रूप से उपभोग करता।

चारों आश्रमों के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी का पुरुषार्थ केवल धर्म था। उसकी सभी क्रियायें धर्म के अनुकूल होती थी। यही वह आश्रम था जहाँ बालक अनुशासित जीवन व्यतीत करते हुये भावी जीवन हेतु ज्ञान का अर्जन करता तथा शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अपने व्यक्तित्व को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित करता। इसके पश्चात गृहस्थाश्रम में व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त प्रशिक्षण एवं ज्ञान अपने व्यवहार में प्रयोग करते हुये एवं मर्यादाओं का पालन करते हुये धर्म, अर्थ एवं काम के पुरुषार्थ को प्राप्त करने के साथ-साथ ऋणों से मुक्ति, पंचमहायज्ञों का सम्पादन एवं धर्मिक संस्कारों को पूरा करता। जिससे वह स्वतः एवं समाज दोनों का उत्कर्ष करता। वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य स्वयं को सांसारिक भोगों से दूर स्वार्थ से परमार्थ की ओर अथवा लौकिकता से आध्यात्मिकता की दिशा में जाने का प्रयत्न करता। अंत में संन्यास आश्रम में मनुष्य अपने जीवन को चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति में लगा देता है।

वास्तव में चारों आश्रम जीवन अवधि के चार क्षेत्रों का संकेत करते हैं। इसमें से यदि हम किसी एक को छोड़ दे तो अगले में हमारा समुचित विकास नहीं हो सकता। बिना धर्म अनुसरण के अर्थ और काम का क्षेत्र अधूरा एवं बिना इसकी पूर्ति के मानव संतुष्ट नहीं हो सकता। अतएव इसके आभाव में मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम का इन्द्रिय निग्रह का निर्वाह नहीं कर सकता। जिसके परिणामस्वरूप वह पूर्ण संन्यासी नहीं बन सकता। इस तरह से चारों आश्रम का परस्पर सापेक्षिक महत्व है। परन्तु इन सभी आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को श्रेष्ठ आश्रम कहा गया है क्योंकि आश्रमों के जो मुख्य आधार पुरुषार्थ, ऋण, यज्ञ एवं संस्कार माने गये हैं उनकी पूर्ति अधिकतर इसी आश्रम में होता है।

पुरुषार्थ के अन्तर्गत अर्थ एवं काम के उपभोग का काल गृहस्थाश्रम है। क्योंकि इसी आश्रम में व्यक्ति को समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिए अर्थोपार्जन करना पड़ता है, वंशपरम्परा को निरंतर रखने के लिए पत्नी के सहयोग से संन्तानोत्पत्ति करना पड़ता है, फिर अर्थ एवं काम को धर्म के



## अतीकुर्रहमान

शोधाचात्र,  
इतिहास एवं कल्वर विभाग,  
डॉ० भीमराव अम्बेडकर  
विश्वविद्यालय,  
आगरा, उत्तर प्रदेश, भारत

## लक्ष्मी गौतम

एसोसिएट प्रोफेसर,  
इतिहास एवं कल्वर विभाग,  
आई०ओ०पी०,  
वृन्दावन, मथुरा, उत्तर प्रदेश,  
भारत

अनुकूल पूरा करना गृहस्थ के कर्तव्य थे। इस तरह धर्म, अर्थ एवं काम रूपी त्रिवर्ग का सेवन गृहस्थाश्रम में ही होता है।

तीन ऋणों देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण से उऋण व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में ही रहकर होता है। इसके सम्पादन करने के पीछे यह धारणा थी कि व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक इस संसार में रहते हुये अनके लोगों से अनेकानेक सुख सुविधाओं की प्राप्ति होती है जो उसके ऊपर ऋण स्वरूप है। अतः इन ऋणों को चुकाकर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मनु ने कहा है कि तीन ऋणों से उऋण होकर ही मन को मोक्ष में लगाये अर्थात् संन्यास ग्रहण करे। इन ऋणों को पूरा किये बिना संन्यास का पालन करने वाला नर्क को जाता है।

### देव ऋण

ऐसी मान्यता थी कि मनुष्य के आस्तित्व के लिए आवश्यक प्राकृतिक सम्पदा देवताओं के द्वारा ही प्रदान की गई जिससे मनुष्य देवताओं का ऋणी है। अतः देवताओं से उऋण होने के लिए शास्त्रों में यज्ञों का अनुष्ठान करने का निर्देश दिया गया है। देवयज्ञ को अग्निहोत्र भी कहते हैं।

### ऋषि ऋण

ऋषि अपने आध्यात्मिक ज्ञान एवं तपस्या से व्यक्ति में ज्ञान एवं आध्यात्मिकता के विकास का मार्ग प्रशस्त किया है। अतः व्यक्ति ऋषियों का ऋणी था और इनसे उऋण होने के लिए व्यक्ति को वेदों का अध्ययन, उनके बताये मार्ग पर चलना तथा उन्हें दान एवं सम्मान देने का निर्देश था।

### पितृ ऋण

धर्मानुसार माता पिता की सेवा एवं सन्तानोंत्पत्ति करके व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्ति पाता था।

### पंचमहायज्ञ

पंचयज्ञों के सम्बन्ध में मनु ने कहा है कि ज्ञाङ्गुलगाने, भोजन पकाने आदि दैनिक कार्यों में अत्यधिक सावधानी रखने पर भी अनेक जीवों की हत्या हो जाती है जिसका ज्ञान गृहस्थ को नहीं रहता इसके प्रायश्चित्त स्वरूप पाँच महायज्ञों का सम्पादन गृहस्थ के लिए आवश्यक है, पाँच महायज्ञ हैं — ब्रह्म यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ।

### ब्रह्मयज्ञ

इस यज्ञ की पूर्ति वेदाभ्यास, स्वाध्याय एवं मौखिक उच्चारण द्वारा ज्ञान की धारा प्रवाहित कर इस यज्ञ को पूरा करने का प्रयास किया जाता था। इस याज्ञिक समारोह का सम्पादन करने का उद्देश्य उन ज्ञानी ऋषियों के प्रति श्रद्धा प्रकट करना था जिन्होंने अपने ज्ञान द्वारा मानव जीवन को प्रकाशमय बनाया।

### पितृ यज्ञ

मृत पूर्वजों की आत्मा की शान्ति हेतु इस यज्ञ का सम्पादन किया जाता था। इसमें पूर्वजों का तर्पण, श्राद्ध आदि कर इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती थी क्योंकि उन्होंने वृश्च की अविच्छिन्न परम्परा को बनाये रखा।

### देव यज्ञ

ऐसी धारणा थी कि मनुष्य की भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति देवताओं की कृपा से ही प्राप्त होती है। अन्तः यह आवश्यक था कि मनुष्य को देवताओं की पूजा, उनके प्रति बलि और अग्नि की आहूति देकर उन्हें प्रसन्न रखने के लिए देव यज्ञ का आयोजन करे।

### भूत यज्ञ

भूत यज्ञ का अयोजन अनिष्टकारी एवं विघ्न पैदा करने वाले भूत, प्रेतों को तुष्टि करने के लिए किया जाता था। इसमें बलि भाग को अग्नि में न डालकर सभी दिशाओं में रख दिया जाता था ताकि सभी प्राणी उसे ग्रहण कर सके।

### नृयज्ञ (मनुष्य यज्ञ)

यह पारस्परिक सहयोग की भावना से किया जाने वाला यज्ञ था। इसे अतिथि यज्ञ भी कहा गया है इसमें गृहस्थ को अतिथियों का सेवा सत्कार, भोजन प्रदान करने का शास्त्रों द्वारा निर्देश दिया गया था। अतिथि को देवता के समान समझा जाता था। वस्तुतः अतिथि सत्कार ही नृयज्ञ था।

इस प्रकार से तीन ऋण एवं पंच महायज्ञ गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति को लौकिक एवं परलौकिक सुख प्रदान करते जिनसे वह व्यक्तिगत उन्नति के साथ साथ समाज के प्रति अपने दायित्वों का धर्मपूर्वक निर्वाह करता।

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता अथवा गृहस्थों के उत्तरदायित्वों की अधिकता इस बात में भी देखी जा सकती है। सोलह संस्कारों में अधिकांश संस्कार को सम्पन्न करने का दायित्व गृहस्थों को ही था। गर्भाधान से लेकर अन्त्योष्टि तक संस्कारों का सम्पन्न करने का दायित्व गृहस्थों पर निर्भर था सिवाय समार्वतन संस्कार का जो ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आता था। वेदारम्भ एवं उपनयन में भी गृहस्थ की सहभागिता थी। इन आरम्भिक संस्कारों से व्यक्ति का जो व्यक्तित्व बनता है वह आजीवन अक्षुण्ण रहता था।

पुराणों में गृहस्थाश्रम में गृहस्थों के दो भेद भी किये गये हैं— 1. साधक गृहस्थ 2. उदाशीन गृहस्थ। वह व्यक्ति जो अपनी गृहस्थी एवं परिवार के भरण पोषण में लगा रहता है उसे साधक गृहस्थ कहा जाता और दूसरा वह व्यक्ति जो देवऋण, पितृऋण तथा ऋण से मुक्त होकर निलिप्त भाव से अपनी पत्नी एवं सम्पत्ति का उपभोग करता है उसे उदाशीन गृहस्थ कहा जाता। इन दोनों प्रकार के गृहस्थ के समक्ष जीवन की दो मान्यतायें होती हैं। पहला कि सारा संसार एवं सभी प्राणी क्षणभंगुर है तथा दूसरा कि सभी कार्य धर्म और कर्म के आधार पर ही आधारित होकर किये जाने चाहिए। डा० जय शंकर मिश्र का मानना है कि “पुरुषार्थों की पूर्णता, ऋणों से मुक्ति, महायज्ञों का सम्पादन, पारिवारिक सौमनस्य, भौतिक सुखों की तुलना में आध्यात्मिक सुखों की श्रेष्ठता, व्यक्तिगत उत्थान, सर्वांगीण व्यक्ति का निर्माण, माननीय महत्ता मानववादी जीवन दर्शन की उपलब्धि आदि गृहस्थाश्रम में ही संभव थी।” महाभारत में भी गृहस्थाश्रम के बारे में उल्लिखित है कि जिस प्रकार सभी जीव माता का सहारा लेकर जीवन धारण करते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम का सहारा लेकर जीवन यापन करते हैं।

गृहस्थ आश्रम सबसे ऊँचा है तथा गृहस्थाश्रम में सभी तपस्या प्रतिष्ठित है। मनु के अनुसार जिस प्रकार सभी नदी और नद सागर में गिरते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम के निवासी गृहस्थाश्रम में ही अपना समावेश करते हैं।

चूंकि गृहस्थ आश्रम समर्त आश्रमों का केन्द्र बिन्दु है इसके अन्तर्गत व्यक्ति के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व भी असीमित थे। उसे सच्चरित्र रहने के लिए नित्य स्नान करना पड़ता, दूसरे के प्रति दयालु, धैर्यवान होना पड़ता एवं किसी को भी घायल नहीं करना पड़ता। उसे सदैव सत्य बोलने एवं अप्रिय वचन न बोलने का निर्देश था। वह उतना ही धन एकत्रित कर सकता जितना वह न्यायप्रिय विधि से प्राप्त किया हो। उसको शूद्रों के राज्य में तथा पापियों के साथ रहने की भी मनाही थी। उसे अपने कुटुम्बियों के साथ झागड़ा एवं दूसरों की सामग्री और अनुमति के प्रयोग करने की मनाही थी। धन रहते मैला वस्त्र, पुराने गहने, दाढ़ी, बाल तथा नाखून बढ़ाना वर्जित था। वह मधु एवं मौस का भोजन नहीं करता। उसे अपनी पत्नी के साथ न भोजन करना होता था और न ही उसको भोजन करते समय देखना उचित माना जाता था।

इस आश्रम में ही गृहस्थ समाज की विविध समस्याओं के प्रति मैत्री तथा प्रेम भाव रखता। यही व्यक्ति स्वार्थ से परार्थ की ओर उन्नमुख होने का पहला पाठ सिखता। जो कि यह इस आश्रम की प्रमुख विशेषता थी क्योंकि जहाँ अन्य आश्रम एकांकी सम्बन्ध में था वही अन्य आश्रमों तथा पूरे समाज और जीवित तथा मृतक संबंधियों से संबंधित है। गृहस्थों द्वारा अतिथि सत्कार को धर्म से जोड़कर देखा जाता। धर्मानुसार यदि कोई गृहस्थ किसी अतिथि को असन्तुष्ट कर देता था तो उसके पुण्य खत्म हो जाते थे। अतिथि को भी परामर्श दिया गया है कि जहाँ आसन, भोजन, फल फूलादि से अतिथि का सत्कार न हो वहाँ अतिथि निवास न करे। मनु ने दस यज्ञों (अकूरता, क्षमा, सत्य अहिंसा, इन्द्रिय दमन, अस्पृहा, ध्यान, प्रशन्नता, मधुरता और सरलता) एवं दस नियमों (पवित्रता, यज्ञ, तपस्या, दान, स्वाधाय, धर्मानुसार ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, मौन और स्नान) की व्यवस्था की है जिसका पालन प्रत्येक गृहस्थ का अनिवार्य कर्तव्य था। डा० जयशंकर मिश्र के अनुसार “पुरुषार्थों की पूर्णता, ऋणों से मुक्ति, महायज्ञों का सम्पादन पारिवारिक सौमनस्य, भौतिक सुखों की तुलना में आध्यात्मिक सुखों की श्रेष्ठता, व्यक्तित्व उत्थान, सर्वागीर्ण व्यक्ति का निर्माण मानवीय महत्ता, मानववादि जीवन दर्शन की उपलब्धि आदि गृहस्थाश्रम में ही संभव थी।”

#### शोध विधि

इस शोध पत्र में मुख्य रूप से ऐतिहासिक विधि का प्रयोग कर विषय वस्तु की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है।

#### निष्कर्ष

इस तरह गृहस्थों का जीवन एक कर्मयोगी का जीवन होता था। वह अपने कर्तव्यों का पालन करने में, इन्द्रिय नियंत्रण करने में अनेक मानसिक एवं शारीरिक कष्टों को सहन करते हुये सांसारिक सुखों का भरपूर आनन्द लेते हुये भी समाज के कार्यभार को सुचारू रूप

से वहन करता। इन सब के दौरान उसे जीवन की समस्याओं से लड़कर विजयी होने के कारण उसके जीवन में कभी पलायन का भाव नहीं आता था। वह गृहस्थ जीवन यापन करके जीवन का सच्चा अनुभव प्राप्त करके एक सुखी एवं आदर्श नागरिक का जीवन व्यतीत करता था। वर्तमान के गृहस्थ की भाँति उनका जीवन नीरस, शोकाकुल, मानसिक एवं शारीरिक तनावग्रस्त, छलपूर्ण नहीं था। सामान्य रूप से देखा जाय तो आजकल प्रायः एक ही आश्रम गृहस्थ आश्रम रह गया है। इसी आश्रम में ही व्यक्ति अपना समर्त जीवन (जन्म से लेकर मृत्यु तक) व्यतीत करता है। जिसमें बालक, किशोर, युवा, वृद्ध सभी आपसी खींचतान मचाते हैं, प्रायः सबों में वैमनस्य की प्रतिस्पद्धा रहती है फलतः सभी घुटन का अनुभव करते हैं।

#### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सिंह डा० वीरेन्द्र कुमार 2002, प्राचीन भारतीय संस्कृति अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद।

कुमार, डा० दीपक, शर्मा, डा०उमाशंकर, 2018, भारतीय संस्कृति, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी। पाण्डेय, डा० राजबली, 1966, हिन्दू संस्कार, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी।

श्रीवास्तव, के०सी० 2008–09 प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृतिक यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद।

शर्मा, प० श्री राम, 2015 शोडश सांकर विवेचन, अखण्ड ज्योतिसंस्थान, मथुरा।

धाकरे, उपेन्द्र, 2016, 16 संस्कार, निरांगी दुनिया प्रकाशन, जयपुर।

शास्त्री, दयाशंकर, 2016, भारतीय संस्कृति (भारतीय संस्कृति के तत्त्व), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनर, वाराणसी।

सत्यदेव, अभिनव, त्रिपाठी, डा०बाकें बिहारी मणि, 2015, प्राचीन भारतीय राज्य एवं समाज, भवदीय प्रकाशन, अयोध्या, फैजाबाद।

सहाय, डा० शिवस्वरूप, 2010–11 हिन्दू राज्य और समाज, प्रकाशन स्टूडेन्ट्स फैण्डस, इलाहाबाद।

द्विवेदी, ब्रजबल्लभ, 2007, भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

गुप्त, नव्यलाल, 2002, महाभारत कलीन समाज, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली।

दिनकर, रामधारी, 2010, संस्कृति के चार अध्याय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

ज्योति विवेक, भारतीय धर्मशास्त्रों में सन्यास आश्रम, कलासिकल पब्लिशिंग, नई दिल्ली।